सुव्यवस्थित जीवन का
मनोविज्ञान
— श्रीराम शर्मा आचार्य

सुव्यवस्थित जीवन का मनोविज्ञान

दूसरों की सहायता से अपनी सुविधाएँ बढ़ती हैं और उनके असहयोग एवं आक्रमण से अपनी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध होता है—विद्वेषी लोग विपत्ति खड़ी करते हैं और सहयोगी सुखद संभावनाएँ उत्पन्न करते हैं—यह तथ्य सर्वविदित है। इसलिए हर किसी की इच्छा यही रहती है कि उसके सहयोगी बढ़ते रहें और विद्वेषी घटते जाएँ। इस स्वाभाविक आकांक्षा की पूर्ति का जो सही तरीका है उससे बहुत कम लोग परिचित होते हैं। यही बहुत बड़े दुर्भाग्य की बात है। अनुभवहीन प्रयास में भटकते हुए पैर कहीं से कहीं जा पहुँचते हैं और भटकाव के कारण उलटे उलझन में फँसते तथा कष्ट सहते हैं।

संसार का सुस्थिर सनातन शाश्वत नियम यह है कि व्यक्ति का स्तर अपने स्तर की ओर आकर्षित होता है और आकर्षित करता है। चुंबक लोहे के टुकड़ों को अपनी ओर खींचता है और लौह पूर्ण चुंबक की ओर

दौड़ता है। चोरों के पास चोर, जुआरियों के पास जुआरी, नशेबाजों के पास नशेबाज ढूँढ़ते, टटोलते आ पहुँचते हैं और परस्पर घुल-मिलकर अपने ढंग का ताना-बना बुनते हैं। ठीक यही बात साधु, सज्जन, सद्‌गुणी लोगों के संबंध में लागू होती है। उनके भी सत्संग जुड़ते और जमातें बनती हैं और सदुद्‌देश्य पूरा करने वाली योजनाओं को कार्यान्वित करने के प्रयास चलते हैं। उस समूह में भी सहयोगियों की संख्या बढ़ती ही जाती है। दूसरी ओर चोर-दुराचारियों के गिरोह भी बढ़ते और मजबूत होते जाते हैं। यह समान स्तर के लोगों का समान स्तर वालों के साथ जुड़ते-घुलते जाने के सिद्धांत का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

धातुओं की खदानें क्रमशः बढ़ती ही जाती हैं। इसका कारण यह है कि जहाँ जितनी धातु जमा होती है वहाँ उस स्तर का उतना ही चुंबकत्व बढ़ता है और वह अपने सजातीय धातु कणों को दूर-दूर तक धूलि में पड़े बिखरे होने पर भी प्रभावित करता है। उस आकर्षण से वे खिंचते चले आते हैं और जहाँ धातु की खदान थी वहाँ

इकट्ठे होते रहते हैं। खदानें इसी आधार पर दिन-दिन विस्तृत होती रहती हैं। यह सिद्धांत मनुष्यों पर भी लागू होता है। उनका आंतरिक चुंबकत्व सजातियों को अपनी ओर खींचता रहता है और तरह-तरह के समूह बनते रहते हैं। अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप जिस स्तर का व्यक्तित्व विनिर्मित होता है उसी प्रकार के व्यक्ति घनिष्ठ बनते चले जाते हैं और फिर उनके संयोग में जो प्रतिक्रिया होनी चाहिए वह होती है। दुष्ट-दुर्जनों के मिलने पर उसी प्रकार की हलचलें उत्पन्न होती हैं और स्नेही, सज्जनों का सद्भाव संपन्न आदान-प्रदान चल पड़ता है। देखने में यह दोनों परिस्थितियाँ एकदूसरे से भिन्न हैं और ईश्वरीय कोप अथवा अनुग्रह का परिचय देती हैं। तो भी वे एक ही क्रम व्यवस्था के कारण उत्पन्न हो रही होती हैं। अपना दूषित व्यक्तित्व दूसरे दुर्जनों को एकत्रित कर रहा होता है अथवा अपनी सज्जनता दूसरे सज्जनों को आमंत्रित करने में जुटी होती है। एक स्थिति में विग्रह और अनाचार उत्पन्न होता है तो दूसरी में स्नेह, सहयोग की वर्षा होती है। यह भिन्नताएँ अपनी भीतरी स्थिति की ही प्रतिध्वनियाँ—प्रतिच्छाया हैं,

मालूम ऐसी होती हैं मानो कहीं बाहर से वे अप्रत्याशित रूप से आ धमकी हैं।

हर मनुष्य के अंदर कुछ न कुछ अच्छाई और कुछ न कुछ बुराई पाई जाएगी। उनमें से जिस भी अंश का हम स्पर्श करेंगे वही अपने लिए फलप्रद बन जाएगी। गाय दूध भी देती है और गोबर भी। अपनी रुचि जिसमें होगी वही खोजा जाएगा और वही मिलेगा। बगीचे में फूल भी रहते हैं गंदगी भी। भौंरे फूलों का आनंद लेते हैं, गुबरीले कीड़ों को सारे उद्यान में गंदगी के ही ढेर लगे मिलते हैं। अपनी रुचि के अनुरूप हम किसी भी व्यक्ति के दुर्गुणों के, सद्गुणों के संपर्क में आते हैं और उसी के संपर्क की प्रतिक्रिया अनुभव करते हैं। हरा चश्मा पहन लेने पर हर वस्तु हरे रंग की दीखती है, पर उसे बदलकर लाल रंग का पहन लें तो सब कुछ लाल रंग का दिखाई पड़ने लगेगा। चश्मे की तरह ही दृष्टिकोण का प्रभाव होता है। संत, सज्जन इस संसार को विराट ब्रह्म के रूप में देखते हैं और 'सीय राममय सब जग जानी' की भावना से लोक-मंगल में निरत रहते हैं। इसके विपरीत दोष

दृष्टि भरी रहने से यह विश्व भव-सागर दिखाई पड़ता है और सर्वत्र पाप अनाचार की असुरता, आधि-व्याधि की बहुलता ही दिखाई पड़ती है।

स्वर्ग किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है। किसी लोक विशेष में वैसी इमारतें या परिस्थितियाँ नहीं हैं जैसी कि स्वर्ग का वर्णन करते हुए कथा-पुराणों में बताई गई हैं और न किसी ग्रह-नक्षत्र में वैसा नरक है जैसा यमदूतों द्वारा उत्पीड़न दिए जाने के कथा-विवरणों में बताया जाता है। इन दोनों का अस्तित्व इसी लोक में है और हर व्यक्ति के दाएँ-बाएँ साथ-साथ चलता है। जब चिंतन की धारा उत्कृष्ट और क्रिया-प्रक्रिया आदर्श होती है तो अंत:करण में अपार संतोष और आनंद भरा रहता है। कस्तूरी के हिरन को अपनी नाभि की महक से दशों दिशाएँ सुगंधित दीखती हैं। यही स्वर्ग है। दर्पण में अपना ही प्रतिबिंब दीखता है। अपनी सज्जनता बाहर के लोगों की श्रद्धा, सहानुभूति एवं सहायक योगदान लेकर वापस लौटती है। ऐसे व्यक्ति घटिया व्यक्तियों, वस्तुओं तथा परिस्थितियों के बीच भी उल्लास भरा वातावरण विनिर्मित कर लेते हैं। यही स्वर्ग का

सृजन हुआ। संत इमर्सन कहा करते हैं—"मुझे नरक में भेज दो, मैं वहीं अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।" इस कथन में ठोस सत्य भरा हुआ है। सज्जन अपनी प्रखर उत्कृष्टता के सहारे संपर्क में आने वाले हर जड़-चेतन को अपने अनुकूल बहुत कुछ बदल लेते हैं, यदि अभीष्ट परिवर्तन न हो सके तो वे अपने व्यवहार को मैत्री, करुणा, उपेक्षा की त्रिविध नीति अपना कर कामचलाऊ ताल-मेल बिठा लेते हैं। सुविकसित लोगों के साथ मैत्री, दुखियों के साथ उपेक्षा का व्यवहार करते हुए टकराव बच सकता है और अपनी सौम्य प्रवृत्ति सुरक्षित रह सकती है।

ठीक इसी प्रकार नरक का सृजन है। दुर्बुद्धि वाले मनुष्य अपनी दूषित दृष्टि और दुष्प्रवृत्तियों के कारण अच्छे वातावरण के बीच भी विक्षोभ उत्पन्न करते हैं। तंग करने पर भोली गाय भी लात मारती है। अनुचित छेड़खानी करने पर सरल लोगों को भी क्रोध आता है और वे भी कठोरता बरतने पर उतारू हो जाते हैं।

अपने से अधिक संपन्न लोगों के साथ तुलना करने पर दरिद्रता लदी दीखेगी और दुर्भाग्य का दुःख

होगा। इसके विपरीत यदि अपने से अभावग्रस्त लोगों अथवा कठिनाइयों से संत्रस्तों के साथ तुलना की जाए तो फिर अपनी स्थिति पर संतोष व्यक्त करते और ईश्वर को धन्यवाद देते ही बनेगा। दरिद्रता और संपन्नता स्वयं कुछ भी नहीं। वे सापेक्ष हैं। ऊँची स्थिति से तुलना करते हुए हम दरिद्र बन जाते हैं और गिरी स्थिति के मुकाबले में संपन्न लगते हैं। इस तुलना मापदंड में थोड़ा हेर-फेर करके भी दरिद्र अपने को संपन्न और कोई भी संपन्न अपने को दरिद्र अनुभव कर सकता है।

परिस्थितियाँ नहीं मनःस्थिति ही हमें नरक में डुबोती है और स्वर्ग के शिखर पर चढ़ाती है। नरक को नीचे पाताल में बताया गया है और स्वर्ग को ऊपर आसमान में। इसका तात्पर्य इतना ही है कि पतित और निकृष्ट व्यक्तित्व अपनी दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों के कारण दुःखद अनुभूतियों और परिस्थितियों से घिरा रहता है और यमदूतों द्वारा उत्पीड़न दिए जाने जैसी पीड़ा सहता है। यह यमदूत और कोई नहीं अपने ही कुविचार हैं। अपना गए-गुजरे स्तर का आपा ही नरक है। गया-गुजरा स्तर भीतर ही भीतर

जलता है और बाहर से प्रतिकूलताएँ सहता है। यही यमदूतों का दंड प्रहार है।

ठीक इसी प्रकार स्वर्ग का सृजन भी मनुष्य के अपने हाथ में है। उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व अपनाकर कोई भी मनुष्य आंतरिक प्रसन्नता और बाहर से सज्जनों का सद्भाव संपन्न सहयोग पाकर यह अनुभव कर सकता है कि वह स्वर्गीय आनंद का रसास्वादन कर रहा है। ऊर्ध्वगमन ही स्वर्गारोहण है। पांडव इसी शांत-शीतलता की तलाश में हिमालय की चोटियों पर चढ़े थे। इस उपाख्यान में यह अलंकार व्यक्त किया गया है कि जितनी अधिक मात्रा में उत्कृष्टता अपनाई जाएगी, अपनी स्थिति दूसरों की तुलना में उतनी ही ऊँची उठ जाएगी और उतनी ही मात्रा में शांत-शीतलता का अनुभव होगा, स्वर्ग इसी प्रकार पाया जाता है।

दूसरे सहायता तो करते हैं, पर वह उसी दिशा में होती है जिसमें कि अपना प्रवाह बहता है। यदि अपनी दिशा पतन की ओर चल रही है और दुर्गुणों, दुर्व्यसनों में लिप्त हैं तो उसी प्रकृति के लोग अपने इर्द-गिर्द जमा

होते चले जाएँगे और पतन की गति और भी तीव्र बनाने में पूरी-पूरी सहायता करेंगे। इसके विपरीत यदि अपनी यात्रा सदुद्देश्य की दिशा में सत्प्रवृत्तियाँ अपनाए हुए चल रही हैं तो उस स्तर के सहयोगियों की भी कमी न रहेगी। श्रेष्ठ सज्जन ऊँचा उठाने और आगे बढ़ाने का मार्गदर्शन एवं सहयोग देने के लिए भी कहीं न कहीं से मिल ही जाएँगे। इस प्रकार अपने प्रयास की सफलता और भी सरल हो जाएगी। पतन और उत्थान में से किसी एक को चुनना अपना काम है। जैसा निश्चय होगा उसी के अनुरूप चुंबकत्व उत्पन्न होगा और उसी स्तर के सहयोगियों को आमंत्रित करके प्रगति क्रम में तीव्रता उत्पन्न कर लेगा।

दूसरों से सहयोग की अपेक्षा करने में कोई हर्ज नहीं, वह मिलता भी है और मिलना भी चाहिए। पर एक बात सदा ध्यान में रखकर चलना होगा कि अपने स्तर के अनुरूप ही यह बाहरी सहयोग जुटाया जा सकेगा। रातभर भले ही पानी बरसता रहे, पर अपने को उसका उतना ही लाभ मिलेगा जितना बड़ा बरतन पास में हो। पात्रता से

अधिक बाहरी सहायता मिलती भी कहाँ है ? दरिद्र, भिखारियों को कौन सोने की मुहरें बाँटता है। उनके पल्ले दो-पाँच पैसे के सिक्के ही पड़ते हैं। इसके विपरीत महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए प्रभावशाली व्यक्ति, प्रयोजन की गरिमा समझाकर लाखों रुपया चंदा इकट्ठा कर लेते हैं। जो दानी, घिनौने, भिखमंगे को उपेक्षापूर्वक दस पैसे का सिक्का फेंकता है, वही व्यक्ति दूसरे सत्पात्र को खुशी-खुशी सौ रुपए का नोट थमा देता है। इस अंतर में दानी की उदारता को न्यूनाधिक के रूप में नहीं प्राप्तकर्त्ता की पात्रता को, घट-बढ़ को ध्यान में रखते हुए समझा जाना चाहिए।

परावलंबन की— दूसरों की गुलामी की सर्वत्र निंदा की गई है। स्वावलंबन को—आत्म-निर्भरता को मनीषियों ने भरपूर सराहा है। स्वर्ग की भाँति मुक्ति को भी सर्वोच्च आध्यात्मिक सफलताओं में गिना गया है। मुक्ति का अर्थ है—बंधन से-परावलंबन से छूटना और स्वावलंबी बनना। इस दृष्टिकोण को अपनाते ही अनेक महान सत्यों का रहस्योद्घाटन होता है और मनुष्य को

विश्वास हो जाता है कि अपनी भली-बुरी परिस्थितियों के लिए पूर्णतया हम स्वयं ही जिम्मेदार हैं। भगवान ने अपने भाग्य निर्माण का दायित्व पूरी तरह हमारे हाथ में सौंपा है। चिंतन और कर्तृत्व के दोनों पैरों के सहारे से हम किसी दिशा में—कितनी ही लंबी यात्रा भली प्रकार कर सकते हैं। दूसरे तो यत्किंचित सहारा भर ही दे सकते हैं। उनके बलबूते कोई बड़ी योजना बनाना और उसके पूरा होने का स्वप्न देखना निरर्थक है।

यदि हम स्वास्थ्य, शिक्षा, संपन्नता, सम्मान, सफलता से वंचित रहते हैं तो इसके लिए दूसरों को दोष देना व्यर्थ है। गहराई से उन कारणों को तलाश करना चाहिए जिनके द्वारा विपन्नता विनिर्मित होती है। आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा, उदासीनता, आवारागरदी जैसे दुर्गुणों में लोग अपनी अधिकांश शक्तियाँ नष्ट करते रहते हैं, महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए उनका श्रम, समय, मनोयोग लगता ही नहीं, फिर वे सफलताएँ कैसे मिलें जो प्रगाढ़ पुरुषार्थ का मूल्य माँगती हैं। असफलताओं का दोष भाग्य, भगवान, ग्रह-दशा अथवा संबंधित लोगों को देकर मात्र

मन को बहलाने की आत्मप्रवंचना की जा सकती है, उसमें तथ्य तनिक भी नहीं है। संसार के प्राय: सभी सफल मनुष्य अपने पुरुषार्थ से आगे बढ़े हैं। उन्होंने कठोर श्रम और तन्मय मनोयोग का महत्त्व समझा है। यही दो विशेषताएँ जादू की छड़ी जैसा काम करती हैं और घोर अभाव की—घोर विपन्नताओं की परिस्थितियों के बीच भी प्रगति का रास्ता बनाती हैं। सफल मनुष्यों में से प्रत्येक के जीवन पर गहरी दृष्टि डालने से यही तथ्य उभरता दिखाई पड़ेगा कि वे अपनी साहसिकता और श्रमशीलता के सहारे ही आगे बढ़े हैं। उठने वाले या गिरने वाले को उनकी दिशा में प्रोत्साहन देना संसार का काम है। बाहर की कोई शक्ति किसी को उठाती, गिराती नहीं। यह सब पूर्णतया अपनी स्थिति पर निर्भर है।

मनुष्य के कायिक और मानसिक संयंत्र में अद्भुत क्षमताओं के एक से एक भंडार भरे पड़े हैं। उनका सुव्यवस्थित सदुपयोग बन पड़े तो सामान्य समझा जाने वाला व्यक्ति भी ऐसी सफलताएँ प्राप्त कर सकता है जिन्हें चमत्कारी देव वरदानों की तरह गिना जाने लगे। दुर्भाग्य

इसी बात का है कि मनुष्य बाहर की वस्तुओं का मूल्य और उपयोग तो जानता है, पर अपनी सामर्थ्य को उभारने तथा उसका सदुपयोग करने की जानकारी से प्राय: वंचित ही रहता है।

यों बाहर से हम अपने आपको कितने ही दीन-हीन अनुभव करते रहें पर गहराई से विचार करें तो प्रतीत होगा कि जो सुविधाएँ और साधन हमें प्राप्त हुए हैं वे संसार के अन्य किसी भी प्राणी को प्राप्त नहीं हैं। हम धरती के प्राणी, स्वर्ग के देवताओं की कल्पना करते हैं और उनकी क्षमता तथा सुख-सुविधाओं को मनुष्य की अपेक्षा असंख्य गुनी मानकर इस बात के लिए ललचाते हैं कि हम भी उनकी स्थिति में होते तो कितना अच्छा होता। ठीक यही बात इस संसार के अन्य प्राणी सोच सकते हैं कि हमारी तुलना में मनुष्य कितना सौभाग्यवान है। यदि उसकी स्थिति हमें मिल जाती तो कितने आनंदित होते। सचमुच बात ऐसी ही है। अन्य जीव उदर पूर्ति के लिए हर दिन घोर परिश्रम करते हैं। तनिक सी विपन्नता आने पर उन्हें भूखा रहना पड़ता है। सुविधा के नाम पर शरीर और

प्रकृतिगत अन्य जीवित रहने योग्य सुविधाओं के अतिरिक्त उनके पास और कुछ भी नहीं है। तनिक सी प्रकृति की प्रतिकूलताएँ उन्हें कुचल-मसलकर रख देती हैं जब कि मनुष्य प्रकृति की विपन्नताओं को चुनौती देता हुआ उसकी रहस्यमय शक्तियों को क्रमशः करतलगत करता चला आ रहा है।

प्राणी का यह असाधारण सौभाग्य है कि उसे मनुष्य जन्म मिले। जिसे यह सुअवसर मिला है उसे यह जानना चाहिए कि इसे किस प्रकार जिया जाए। इसका समुचित लाभ कैसे उठाया जाए। यह ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। इसे संसार के समस्त ज्ञानों से सर्वोपरि एवं सर्वप्रथम आवश्यकता का कहा जा सकता है। जिसे जीना नहीं आया, कहना चाहिए उसे कुछ नहीं आया। भले ही अन्यान्य विषयों में उसकी जानकारी एवं कुशलता कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो। जिसे जीना आता है उसे विपरीत परिस्थितियों की—दूसरों के विरोध-असहयोग की शिकायत नहीं करनी पड़ती। मनुष्य की अपनी सत्ता मूलतः समस्त संभावनाओं से भरी-पूरी है। श्रेष्ठता और समर्थता

के समस्त बीज उसके भीतर विद्यमान हैं जिन्हें उगाकर वह अपने व्यक्तित्व को कल्प-वृक्ष जैसा समस्त सुविधाएँ-सफलताएँ विनिर्मित कर सकने वाला बना सकता है। विपरीत परिस्थितियों और व्यक्तियों को सुधारने की अथवा उनके साथ ताल-मेल बिठाकर प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह करने की व्यवस्था वह सहज ही उत्पन्न कर सकता है। उसकी शारीरिक, मानसिक क्षमताएँ इतनी प्रखर हैं कि उनका सही उपयोग करने पर अपने इर्द-गिर्द ऐसा वातावरण बना सकता है जिसे संतोषजनक, उल्लासपूर्ण एवं उत्साहवर्द्धक कहा जा सके।

शारीरिक, मानसिक स्वस्थता बनाए रखना; निर्वाह के समुचित साधन जुटाए रहना एवं साथी संबंधियों के साथ मधुर सहयोग की स्थिति बना लेना पूरी तरह उसकी अपने हाथ की बात है। उसी तरह उपयुक्त कामों का चुनाव एवं उसको पूरा करने की सफलता प्राप्त करना उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है। इसके लिए उसे अतिरिक्त रूप से कुछ करना या पाना नहीं है वरन मात्र जीवन जीने की कला को जानना भर है। यदि मनुष्य

इतना कर सके तो सुखी, संतुष्ट और सफल जीवन जी सकने में कोई संदेह नहीं रह जाएगा।

साधारण औजारों या मशीनों को चलाने के लिए उस संदर्भ में आवश्यक जानकारी एवं कुशलता उपार्जित करनी पड़ती है। एक से एक बढ़कर बहुमूल्य मशीनें मौजूद हैं पर उनका लाभ केवल वे ही उठा सकते हैं जिनको उन्हें चलाने या सुधारने की जानकारी प्राप्त है अन्यथा वे यंत्र कूड़े के ढेर की तरह निरुपयोगी रहेंगे। इतना ही नहीं, यदि उन्हें अनाड़ीपन से चलाया गया तो विपत्ति भी उत्पन्न करेंगे। मोटर कितनी ही कीमती क्यों न हो, यदि चलाना न आने पर भी कोई उसे चलाने लगे तो निश्चित रूप से उसे तोड़-फोड़कर रख देगा और अपने लिए प्राण-संकट उत्पन्न करेगा। मानवी सत्ता इतनी बहुमूल्य, इतनी संवेदनशील और जटिल है कि इसे यदि ठीक तरह उपयोग में लाया जा सके तो उतना कुछ पाया जा सकता है जिसके आधार पर उसे सर्वथा सार्थक और सफल कहा जा सके। इसके विपरीत उसका अनाड़ी उपयोग इतने रोग-शोक जमा कर देगा कि उस विपन्न स्थिति की

तुलना में पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों की जिंदगी को भी अच्छी कहा जा सके।

ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं जो अगणित कष्ट-संकटों से भरा विपन्न जीवन जीते हैं और हर घड़ी अपने दुर्भाग्य को रोते हैं। मौत को याद करते हैं और निरंतर अशांत-उद्विग्न रहते हैं। ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे जो अपनी स्थिति से संतुष्ट हों और आनंद, उल्लास के—संतोष, उत्साह के दिन व्यतीत कर रहे हैं। आश्चर्य होता है कि सृष्टि का मुकुटमणि बना हुआ—समस्त सुविधा संभावनाओं से भरा-पूरा मनुष्य क्यों दुःख दुर्भाग्य के दिन काटता है। क्यों नहीं अपनी सर्वोपरि विभूतियों का लाभ उठाकर निरंतर आनंदमग्न रहता? इस प्रश्न का उत्तर एक ही है—जीवन जीने की कला से अपरिचित होना। अपने आपे का अनाड़ीपन से प्रयोग करना। मोटर संचालन से अपरिचित व्यक्ति जब उसे धकापेल चलाने का दुस्साहस करता है तो स्वभावतः दुर्घटनाएँ होती हैं। टक्कर खाने, खड्ड में गिरने, किसी को कुचल देने, मशीन को तोड़-फोड़ लेने जैसी विपत्तियाँ उसके सामने आएँगी ही।

यह भी संभव है कि वह उस कीमती यंत्र को क्षत-विक्षत करने के साथ-साथ अपने ही हाथ-पैर तोड़ ले, अपने लिए ही प्राण संकट उत्पन्न कर ले।

हममें से अधिकांश मनुष्य यही करते हैं और विविधविध रोग-शोक उत्पन्न करते हैं—अपनी करनी भोगते और अपने प्रारब्ध को रोते हैं। वस्तुतः यह दयनीय स्थिति अपनी ही पैदा की हुई होती है। जिन पशु-पक्षियों ने मनुष्य की आधीनता स्वीकार नहीं की है उन वन्य जीव-जंतुओं में से कोई बीमार नहीं पड़ता। सृष्टि के नियमानुसार जन्मते-मरते तो वे भी हैं, पर बीमारी का दुःख नहीं भुगतते। केवल मनुष्य ही है जो आएदिन चित्र-विचित्र बीमारियों का दुःख भुगतता है। इसका कारण स्वास्थ्य रक्षा के नियमों से अपरिचित होना या उनकी अवज्ञा करना ही होता है। संयम और व्यवस्था को अपनाने वाले सहज ही निरोग दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं। आहार-विहार संबंधी भूलों को समझ और सुधार लेने वाले कठिन और पुरानी बीमारियों से बिना किसी खरचीले उपचार के सहज ही अपना खोया स्वास्थ्य प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत

अप्राकृतिक रीति-नीति अपनाए रहने वाले जो लोग मात्र दवादारू के बल पर रुग्णता से छुटकारा पाना चाहते हैं उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। बीमारी और दुर्बलता भी वर्तमान सभ्यता का एक अंग बन गई है। प्रकृति की मर्यादाओं का उल्लंघन करते रहने वाली शरीर संचालन की रीति-नीति अपनाने का स्वाभाविक परिणाम वह है जो व्यापक रुग्णता के—अकाल मृत्यु के रूप में हमें भुगतना पड़ता है। इसमें अधिकांश दोष अपने अनाड़ीपन का ही होता है—विपरीत परिस्थितियों का बहुत कम।

मस्तिष्क यों शरीर का एक अवयव मात्र है, पर उसकी क्षमता ऐसी है जिसे अद्‌भुत और आश्चर्यजनक कहा जा सके। उसी से हम सोचते, निर्णय करते एवं दिशा ग्रहण करते हैं। स्वभाव और आदतें इसी क्षेत्र की उपज हैं। किस परिस्थिति में क्या संवेदना अनुभव की जाए, यह निष्कर्ष निकालना इसी यंत्र का काम है। असंतोष-संतोष, भय-भीरुता-निर्भयता, शौर्य-साहस, आशंका-निश्चिंतता, दुर्भाग्य-सौभाग्य, निराशा-आशा, खिन्नता-प्रसन्नता जैसी विपरीत मनःस्थिति वस्तुतः

घटनाक्रम एवं परिस्थिति से उतनी संबद्ध नहीं होती जितनी कि सोचने की आदत पर निर्भर रहती है। एक जैसी परिस्थिति में रहने वाले दो व्यक्तियों में एक संतुलित रहता है और दूसरा अति खिन्न-उद्विग्न दिखाई पड़ता है। परीक्षा में अनुत्तीर्ण छात्रों में से एक उसे संयोग या आलस की प्रतिक्रिया मात्र मानकर उससे अधिक जागरूकता और श्रमशीलता की प्रेरणा प्राप्त करता है और अगले वर्ष उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होता है। जबकि दूसरा छात्र फेल होने के आघात से तिलमिलाकर पढ़ाई ही छोड़ बैठता या आत्महत्या जैसे कुकृत्य करने पर उतारू हो जाता है। यदि परिस्थितियों की ही यह प्रतिक्रिया रही होती तो सभी अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों को एक जैसे कदम उठाने चाहिए थे, पर एक ने एक तरह सोचा और कदम उठाया, दूसरे ने दूसरी तरह समझा और वैसा कदम बढ़ाया। इसमें उनके चिंतन की, मानसिक स्थिति की—भिन्नता ही मूल कारण थी। एक दुर्जनता के पथ पर चलते हुए पतन के गर्त में गिरता है और दूसरा सज्जनता की नीति अपनाकर क्रमशः प्रगति के उच्च शिखर पर चढ़ता जाता है। उसमें

कोई अन्य कारण नहीं मात्र चिंतन की धारा, मस्तिष्क की गतिविधि ही प्रमुख आधार होती है।

कुछ लोग गरीबी के बीच भी हँसी-खुशी का उल्लास भरा जीवन जीते हैं, जबकि दूसरे विपुल संपदाओं के स्वामी होते हुए भी निरंतर खीज और झुँझलाहट से उद्विग्न दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण धन नहीं, उनका परिष्कृत अथवा विकृत दृष्टिकोण ही होता है। घटिया स्तर के कुटुंबियों के साथी-सहायकों के बीच भी कितने ही लोग ताल-मेल बिठा लेते हैं और सुधार की यथासंभव चेष्टा करते हुए शांति-संतुलन बनाए रहकर दिन गुजारते हैं। इससे विपरीत कितने ही ऐसे होते हैं जो अपनी इच्छा के विपरीत किसी की राई-रत्ती भिन्नता भी सहन नहीं करते और जहाँ तनिक सा मतभेद दीखा कि आग-बबूला हो जाते हैं—मरने-मारने पर उतारू होते हैं। ऐसे असहिष्णु व्यक्ति क्रोध और असंतोष की आग में निरंतर जलते रहते हैं, अपने को शत्रुओं से घिरा देखते हैं, जबकि दूसरे लोग घोर मतभेदों और भिन्नता के रहते हुए भी सहमति के कितने ही आधार खोज लेते हैं। जिनके साथ

रहना ही है उनके साथ कामचलाऊ समन्वय स्थापित कर लेते हैं।

सोचने की उत्कृष्टता का नाम ही स्वर्ग है। हँसते मुसकराते हुए सुख-चैन की जिंदगी केवल वे ही जी सकते हैं जिनने अपना चिंतन-दृष्टिकोण सही बना लिया। विकृत मनःस्थिति का ही दूसरा नाम नरक है। परिस्थितियाँ भली-बुरी कैसी भी क्यों न हों, विकृत मनःस्थिति के लोग स्वयं रोष-आवेश में जल रहे होंगे और अपने संबंधियों को भी जला रहे होंगे। जिसे मस्तिष्क की क्षमता को समझने और उसके सदुपयोग की कला आती है वह देवोमय स्वर्गीय जीवन जी रहा होगा। विपरीतताओं के साथ घोर संघर्ष करने में भी उसकी आंतरिक शालीनता यथास्थान बनी रहेगी।

शरीर और मन का सदुपयोग करने की कला में अभ्यस्त व्यक्ति निरोग और प्रसन्नचित्त पाए जाएँगे। उनका व्यक्तित्व भारी भरकम और प्रतिभा संपन्न दिखाई देगा। देह का हृष्ट-पुष्ट या सुंदर होना उतना आवश्यक नहीं, जितना संयम द्वारा उत्पन्न हुई स्फूर्ति। मन को प्रसन्न

करने के लिए सुविधा-साधनों का बाहुल्य उतना अभीष्ट नहीं, जितना दृष्टिकोण का परिष्कृत स्तर। परिस्थितियाँ अपने हाथ में नहीं, जो चाहते हैं वही उपलब्ध हो जाए यह आवश्यक नहीं। पर यह पूरी तरह अपने हाथ की बात है कि अपने शरीर और मन की गतिविधियों का दूरदर्शितापूर्ण आधार पर निर्माण-निर्धारण करें और प्रतिकूलताओं के बीच अनुकूलता को उगा सकने में सफलता प्राप्त करें। शरीर और मस्तिष्क का नियंत्रण-संचालन जिसे आ गया वह एक कुशल ड्राइवर की तरह अपनी जीवनसत्ता रूपी मोटर को प्रगति के राजमार्ग पर द्रुतगति से दौड़ाता हुआ चला जाएगा और सर्वतोमुखी सफलता प्राप्त करेगा। जिसे यह सब नहीं आता वह दूसरों को दोष देता हुआ रोते-कलपते मौत के दिन पूरे करेगा।

अर्थ कष्ट से अधिकांश लोग दुखी पाए जाते हैं। वे अकस्मात अप्रत्याशित धन लाभ होने की आशा लगाए बैठे रहते हैं। यह भूल जाते हैं कि योग्यता और श्रमशीलता की वृद्धि करके ही अधिक धन कमाया जा सकता है।

इस ओर से उदासीन रहकर सही–स्वाभाविक अर्थोपार्जन नहीं हो सकता। शारीरिक, मानसिक श्रम संतुलन को अधिक प्रखर बनाकर आर्थिक प्रगति की ओर बढ़ा जा सकता है। मधुर और मिलनसार स्वभाव बनाकर ऐसे सहयोगी बढ़ाए जा सकते हैं जिनकी सद्भावनाएँ आर्थिक प्रगति में भी सहायता कर सकें। इसके अतिरिक्त आमदनी से खरच कम रखने के संबंध में कड़ाई बरती जा सकती है। अंधाधुंध बच्चे पैदा करके अपने पैरों अर्थ संकट की कुल्हाड़ी मारने से कोई भी दूरदर्शी बचा रह सकता है। ठाठ–बाट के—व्यसन और अपव्यय के कितने ही खरच ऐसे किए जाते रहते हैं जिन्हें हटाकर सादगी का शालीन रहन–सहन अपनाया जा सकता है और उस बचत से उपयोगी आवश्यकताएँ पूरी करते हुए सुखपूर्वक रहा जा सकता है। आमदनी बढ़ाने की क्षमता विकसित करने की अपेक्षा लोग खरच बढ़ाने में उत्साह दिखाते रहते हैं और अर्थ संकट में फँसते हैं। यदि अर्थव्यवस्था के संबंध में सुनियोजित दृष्टिकोण रहे तो वे लोग जो दरिद्रता का निरंतर कष्ट भोगते रहते हैं, अपने बोये अर्थ संकट से

छुटकारा पा सकते हैं। कम आजीविका वाले ऐसे कितने ही लोग मिल सकते हैं जो अपने लिहाफ की लंबाई देखकर पैर पसारते हैं और सुखपूर्वक गहरी नींद सोते हैं।

दांपत्य-जीवन को सुखद, सरस एवं सहयोगपूर्ण बनाए रहने का कितना अधिक लाभ है इसे समझा नहीं गया। उसका संयुक्त परिवार की सुव्यवस्था पर, भावी पीढ़ियों पर, अर्थव्यवस्था पर, घर की प्रसन्नता, प्रफुल्लता एवं प्रगति पर कितना प्रभाव पड़ता है इसका लेखा-जोखा उन परिवारों की तुलना करके लिया जा सकता है जहाँ असहयोग के कारण संपन्नता होते हुए भी सब कुछ नारकीय बना हुआ है और सहयोग के कारण जहाँ स्वर्ग की झाँकी देखने को मिल रही है वहाँ कई बार तो रूप, यौवन, शिक्षा, कुशलता, संपन्नता आदि के रहते हुए यह उपलब्धियाँ दांपत्य-जीवन में स्नेह, सामंजस्य बना रहने के कारण ही संभव हुई होती हैं।

माता का अपनी संतान के प्रति वात्सल्य होना जिस प्रकार स्वाभाविक है उसी प्रकार पति-पत्नी के बीच भी भावनात्मक एकता की कड़ी सहज ही जुड़ी होती है।

सरसता, अर्थव्यवस्था, सुरक्षा व्यवस्था आदि कितने ही कारण एकदूसरे को घनिष्ठता की जंजीरों में जोड़ते हैं। नर-नारी का प्रकृति प्रदत्त आकर्षण और दोनों की संयुक्त उपार्जित संतान इस कड़ी को और भी मजबूत बनाती है। इतनी सहज स्वाभाविकता के रहते तनिक सी सावधानी, उदारता और मृदुलता बरतने पर दोनों एकदूसरे के गुलाम बनकर रह सकते हैं। एकदूसरे को सुखी और सुविकसित बनाने में भारी योगदान दे सकते हैं। इस आधार पर छोटे घर-घरौंदों में स्वर्ग की झाँकी देखी जा सकती है। किंतु यह सौभाग्य कितनों को मिलता है अधिकांश पति-पत्नी विवशता के कारण ही आपस में जुड़े रहते हैं। लोक-लाज, अर्थव्यवस्था, कामलिप्सा, संतान बंधन आदि के कारण ही किसी प्रकार दिन काटते रहते हैं। भीतर ही भीतर उनमें घोर असंतोष और उपेक्षा-भाव भरा रहता है। उनमें स्नेह, सद्भाव का नाम भी नहीं होता—लोक-व्यवहार मात्र निभता रहता है। इस दयनीय स्थिति से वे बच सकते हैं जिन्हें जीवन जीने की कला का ज्ञान है और यह जानते हैं कि साथी का दिल किस सद्व्यवहार से जीता जा सकता है।

संतानें कितनों की सुसंस्कृत होती हैं, यह तलाश करने पर निराशा ही हाथ लगती है। पुरानखंडी लोग वंश चलाने, मरने पर पिंड मिलने जैसी थोथी बातों को भी सच मानते हैं और संतान न होने पर या लड़कियाँ होने पर आँसू ढुलकाते हैं। अधिकांश की संतानें अनियंत्रित काम-सेवन का अनिच्छित दुष्परिणाम मात्र होती हैं। कितने ही उनमें कुतूहल, मनोविनोद और समय काटने की बात सोचते हैं। कई इसे विधि का विधान मानते हैं। कुछ बेटों की कमाई खाने और बुढ़ापे में सहारा मिलने की बात सोचते हैं, कई का अनुमान होता है समर्थ बेटे अपने छोटे भाई-बहिनों की सहायता करके उनकी जिम्मेदारियों का बोझ हलका करेंगे। बड़ी पदवी पाकर उनका गौरव बढ़ाएँगे। इसी प्रकार के अन्यान्य विचारों में उलझे हुए लोग संतान के सुख के स्वप्नों में खोए रहते हैं और बच्चे बढ़ाने और उनके लिए अधिक कमाने के कोल्हू में पिसते रहते हैं। यही है आज की संतानोत्पादन विडंबना की परिधि। लोग बच्चों के लिए अर्थ साधन

जुटाते रहने भर को अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानते रहते हैं।

ऐसे कितने लोग हैं जो संतान को इसलिए उत्पन्न करते हैं कि राष्ट्र को सुयोग्य-सुसंस्कृत नागरिक भेंट करके अपने को धन्य बनाएँ। हाड़-मांस के पिंड को भोजन, वस्त्र, शिक्षा, शादी आदि की व्यवस्था जुटाकर नर-पशु के रूप में बड़ा कर देना और अपने पैरों खड़ा कर देना कुछ कठिन काम नहीं है, पर यह बड़ी बात है कि गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से सुविकसित संतान का निर्माण किया जाए। ऐसा करना उन्हीं के लिए संभव है जो जीवन तत्त्व को और उसके साथ जुड़े हुए उच्चस्तरीय उत्तरदायित्वों का महत्त्व समझते हैं। संतान का विकास वैसा ही है जैसा किसी कुशल माली द्वारा छोटे पौधों का सुरम्य उद्यान के रूप में सुविकसित करना। इसके लिए अनवरत साधना करनी पड़ती है और बच्चों के व्यक्तित्व को सुसंस्कृत बनाने पर हर घड़ी ध्यान रखना पड़ता है। उन्हें उपयुक्त मार्गदर्शन ही नहीं अपितु परिष्कृत वातावरण भी देना पड़ता है। यह सब बहुत झंझट भरा काम है। इनमें बच्चों का नहीं बल्कि

अपना निर्माण एक ऐसे अच्छे साँचे के रूप में करना पड़ता है जिसमें सुंदर खिलौने ढाले जा सकें। इसकी योग्यता और तैयारी उसकी हो सकती है जिसने जीवन के महत्त्व और उत्तरदायित्वों को गंभीरतापूर्वक समझा है और उसके लिए अपने आपको तत्परतापूर्वक प्रशिक्षित किया है। उन्हीं को संतानोत्पादन का सच्चा प्रतिफल मिल सकता है, वे ही एक सुयोग्य पिता को मिल सकने वाले श्रेय-संतोष का लाभ ले सकते हैं।

यहाँ चर्चा सामान्य औसत दरजे के मनुष्यों की हो रही है। शारीरिक स्वस्थता, मानसिक संतुलन, अर्थ सुविधा, दांपत्य सरसता, सुयोग्य संतान, वयोवृद्धों का संतोष, संयुक्त परिवार में सामंजस्य, विनोद-संतोष भरा वातावरण, श्रेय-सम्मान, सफलताओं का गौरव कौन नहीं चाहता, आमतौर से इन्हीं की इच्छा-आवश्यकता को पूरा करने में पूरी जिंदगी खप जाती है। किंतु इसी एक राह पर चलने वाले असंख्यों में से कोई विरला ही मंजिल पूरी करता है, अधिकांश तो जंजाल में भटकते हुए दिन गुजारते हैं और

हर क्षेत्र की असफलताओं पर खिन्न रहते, असंतुष्ट-असफल जीवन जीते मौत के मुँह में चले जाते हैं। असफलताओं का दोष परिस्थितियों पर-व्यक्तियों पर थोपने से अपने को निर्दोष समझने की सांत्वना तो मिल जाती है, पर उस आत्मप्रवंचना से भी कुछ बनता नहीं। थोड़ा सा जी हलका कर लेने पर भी दूसरों पर दोष मढ़ने से भी स्थिति जहाँ की तहाँ रहती है उसमें कुछ अंतर नहीं आता।

धर्म, अध्यात्म, परलोक इससे आगे का विषय है। अंतः क्षेत्र में प्रसुप्त पड़ी हुई रहस्यमय क्षमताओं का विकास करने से मनुष्य अतींद्रिय क्षमताएँ प्राप्त करता है और अति मानव स्तर पर जा पहुँचता है। जहाँ उसे महामानव, ऋषि अथवा देवता कहा जाने लगता है। अपने समय के समाज को मोड़ता है, युग का नेतृत्व करता है और उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाता है। आत्मबल, मनोबल का अपना महत्त्व है। मनस्वी क्या नहीं कर गुजरते। ओजस्वी लोगों के लिए क्या कुछ कठिन होता है। आत्मबल चेतना जगत का सबसे बड़ा बल है। उसे प्राप्त करके मनुष्य इतना

बलवान हो जाता है जिसकी तुलना में कोई बलिष्ठ से बलिष्ठ सत्ता ठहर नहीं सकती। इन उपलब्धियों को उपार्जित करने के लिए भी जीवन साधना ही करनी पड़ती है। लोगों का यह भ्रम नितांत मिथ्या है कि अमुक कर्मकांडों के विधि-विधानों से जादुई जप-तप करने से चमत्कारी आत्म शक्तियाँ प्राप्त होती हैं अथवा कोई देवी-देवता सिद्ध होकर मनोवांछित वरदान प्रदान करते हैं। वस्तुतः उपासनात्मक कर्मकांडों और विधि-विधानों के पीछे छिपी हुई सांकेतिक प्रेरणा यही है कि जीवन का अंतरंग और बहिरंग स्वरूप निखारा जाए। उस पर चढ़े कषाय-कल्मषों का आवरण उतारा जाए। यह प्रक्रिया पूजा-पाठ से या जिस भी उपाय से पूरी हो सकेगी उसी से आत्मोत्कर्ष का, आत्म-साक्षात्कार का, अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तित करने का प्रतिफल प्राप्त होगा। उसी से वे लाभ प्राप्त होंगे जो विभिन्न उपासनाओं के फल माहात्म्य-रूप में गाये बताए गए हैं। वस्तुतः योग और तप का प्रयोजन व्यक्ति की आस्था, आकांक्षा, भावना, दृष्टि, मान्यता एवं तत्परता को उत्कृष्टता के स्तर तक

पहुँचाता है। इस स्थिति पर पहुँचते हुए मनुष्य का आत्मा ही परमात्मा की पदवी प्राप्त करता है और वही आत्म-परिष्कार का, युग संतुलन का महान प्रयोजन पूरा करता है।

निस्संदेह मानव जीवन एक दिव्य उपहार है। ईश्वर के पास इससे बड़ा और कोई वरदान प्राणी को देने के लिए है नहीं। समस्त संसार की प्रकृति संपदा एक ओर और मानवी सत्ता में बीज रूप से प्रसुप्त संभावनाएँ एक ओर रखकर यदि तोली जाएँ तो मनुष्य की चेतनात्मक गरिमा ही भारी पड़ेगी। महर्षि व्यास की यह उक्ति अक्षरश: सत्य है—"मनुष्य से बढ़कर इस संसार में और कुछ श्रेष्ठ नहीं है।" पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह श्रेष्ठता जीवन विद्या के आधार पर ही जीवित-जाग्रत है और प्रखर हो सकती है। इस संजीवनी विद्या का सीखना और सिखाया जाना इतना महत्त्वपूर्ण है कि इससे बढ़कर और कोई श्रेय साधन हो ही नहीं सकता।

❑

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)